जैन कला का अवदान

डॉ. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी

भारतीय कला तत्त्वतः धार्मिक है। कला के विभिन्न माध्यमों में मुख्यतः धार्मिक भावनाओं एवं आराध्य देवों को ही स्थूल अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है। अतः काल एवं क्षेत्र के सन्दर्भ में सम्बन्धित धर्म या सम्प्रदाय में होने वाले परिवर्तनों एवं विकास से शिल्प की विषयवस्तु में भी तदनुरूप परिवर्तन हुए हैं। विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित कला ही अपने समष्टिरूप में भारतीय कला है। आशय यह कि विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित कलाएँ भारतीय कलारूपी वृक्ष की अलग-अलग शाखाएँ हैं। शैली की दृष्टि से धार्मिक कलाओं से भिन्नता दृष्टिगत नहीं होती; उनका साम्प्रदायिक स्वरूप केवल विषयवस्तु एवं मूर्तियों के विवरणों में ही देखा जा सकता है।

जैन धर्म भारत के प्रमुख प्राचीन धर्मों में एक है। जैन धर्म पर पर्याप्त कार्य हुआ है, पर जैन कला पर अभी तक समुचित विस्तार से कार्य नहीं हुआ है। यहाँ हम संक्षेप में जैन मूर्तिकला के योगदान की चर्चा करेंगे। हमारा अध्ययन मुख्यतः उत्तर भारत से संदर्भित है, और इसकी समय सीमा १२ वीं शती ई० तक है।

प्रारम्भ में हम जैन कला को प्राप्त होने वाले राजनीतिक एवं आर्थिक समर्थन और संरक्षण की चर्चा करेंगे।

जैन परम्परा में उत्तर भारत के केवल कुछ ही शासकों के जैन धर्म स्वीकार करने के उल्लेख हैं। इनमें चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्प्रति, खारवेल, नागभट द्वितीय एवं कुमारपाल चौलुक्य मुख्य हैं। तथापि पाल शासकों के अतिरिक्त बारहवीं शती ई. तक के अधिकांश राजवंशों के शासकों का जैन धर्म के प्रति दृष्टिकोण उदार था। इसके तीन मुख्य कारण थे, प्रथम भारतीय शासकों की धर्म सहिष्णु नीति, दूसरा, जैन धर्म का अन्य धर्मों के प्रति आदर का भाव एवं उसकी ग्रहणशीलता और तीसरा जैन धर्म की व्यापारियों, व्यवसायियों एवं सामान्य जनों के मध्य विशेष लोकप्रियता। जैन धर्म एवं कला को शासकों से अधिक व्यापारियों, व्यवसायियों एवं सामान्य जनों का समर्थन और सहयोग मिला।

मथुरा के कुषाण कालीन मूर्तिलेखों में श्रेष्ठिन्, सार्थवाह, गन्धिक, सुवर्णकार, वर्धकिन (बढ़ई), लौहकर्मक, प्रातरिक (नाविक), वैश्याओं, नर्तकों आदि के उल्लेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं।[1] साथ ही ओसिया, खजुराहो, जालोर एवं मध्ययुगीन अन्य अनेक स्थलों के मूर्तिलेखों से भी इसी बात को पुष्टि होती है।[2] ल. आठवीं से बारहवीं शती ई. के मध्य उत्तर भारत में जैन कला के प्रभूत विकास के मूल में भी इस क्षेत्र की सुदृढ़ आर्थिक पृष्ठभूमि का ही महत्त्व था। गुजरात के भड़ौंच, कैंबे और सोमनाथ जैसे व्यापारिक महत्त्व के बन्दरगाहों, राजस्थान के पोरवाड़, श्रीमाल, मोठेरक जैसी व्यापारिक जैन जातियों[3] एवं मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में विदिशा, उज्जैन, मथुरा, कौशाम्बी, वाराणसी जैसे महत्त्वपूर्ण व्यापारिक स्थलों के कारण ही इन क्षेत्रों में अनेक जैन मन्दिर एवं विपुल संख्या में मूर्तियाँ बनीं। जैन कला स्थापत्य एवं प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से कुषाण, गुप्त, प्रतिहार, चन्देल और चौलुक्य राजवंशों का शासन काल विशेष महत्त्वपूर्ण था। इन राजवंशों के काल में उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में मथुरा, देवगढ़, अकोटा, खजुराहो, ओसिया, ग्यारसपुर, कुमारिया, आबू, जालोर, तारंगा, नवमुनि-बारभुजी गुफाएँ एवं अन्य महत्त्वपूर्ण जैन कलाकेन्द्र पल्लवित और पुष्पित हुए।

जैन कला की दृष्टि से उत्तर भारत का विविधतापूर्ण अग्रगामी योगदान रहा है। जैन परम्परा के अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी युग के सभी २४ जिनों ने इसी क्षेत्र में जन्म लिया, यही उनकी कार्यस्थली थी, तथा यहीं उन्होंने निर्वाण भी प्राप्त किया। सम्भवतः इसी कारण प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों की रचना एवं कलात्मक अभिव्यक्ति का मुख्य क्षेत्र भी उत्तर भारत ही रहा।

जैन आगमों का प्रारम्भिक संकलन एवं लेखन यहीं हुआ तथा प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक ग्रन्थ, जैसे **कल्पसूत्र, पउमचरियं, अंगविज्जा, वसुदेवहिण्डी** आदि इसी क्षेत्र में लिखे गये। जैन प्रतिमाविज्ञान के पारम्परिक विकास का प्रत्येक चरण सर्वप्रथम इसी क्षेत्र में परिलक्षित होता है। जैन कला का उदय भी इसी क्षेत्र में हुआ। प्रारम्भिकतम जिन मूर्तियाँ भी इसी क्षेत्र में बनीं। ये मूर्तियाँ लोहानीपुर (पटना) एवं चौसा (भोजपुर) से मिली हैं। ऋषभनाथ की लटकती जटाओं, पार्श्वनाथ के सात सर्पफण, जिनों के वक्षस्थल में श्रीवत्स चिह्न और शीर्ष-भाग में उष्णीस तथा जिन मूर्तियों में अष्टप्रतिहार्यों और दोनों पारम्परिक मुद्राओं (कायोत्सर्ग एवं ध्यानमुद्रा) का प्रदर्शन सर्वप्रथम इसी क्षेत्र में हुआ। दक्षिण भारत की जिन मूर्तियों में उष्णीष नहीं प्रदर्शित है। श्रीवत्स चिह्न भी वक्षस्थल के मध्य में न होकर सामान्यतः दाहिनी ओर उत्कीर्ण है।[4] जिन मूर्तियों में लाछनों एवं यक्ष-यक्षी युगलों का निरूपण भी सर्व प्रथम उत्तर भारत में ही हुआ। दक्षिण भारत के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्ति अवशेषों में महाविद्याओं, २४ यक्षियों, आयागपट, जीवंतस्वामी महावीर, जैन युगल आदि की मूर्तियाँ नहीं प्राप्त होती हैं। ज्ञातव्य है कि उत्तर भारत में इनकी अनेक मूर्तियाँ हैं।

उत्तर भारत में ऋषभनाथ की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। इसके बाद पार्श्वनाथ, महावीर और नेमिनाथ की मूर्तियाँ हैं। पर दक्षिण भारत में महावीर और पार्श्वनाथ की सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। ऋषभनाथ की मूर्तियाँ तुलनात्मक दृष्टि से नगण्य हैं। उत्तर भारत में चक्रेश्वरी, अम्बिका एवं पद्मावती यक्षियों की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। पर दक्षिण भारत में चक्रेश्वरी के स्थान पर चंद्रप्रभ की यक्षी ज्वालामालिनी की सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। ज्वालामालिनी के बाद अम्बिका एवं पद्मावती की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। यक्षों में दक्षिण भारत में गोमुख, कुबेर, धरणेन्द्र एवं मातग की मूर्तियाँ मिली हैं। उत्तर भारत में दिगम्बर और श्वेतांबर दोनों ही परम्परा की मूर्तियाँ बनीं, जबकि दक्षिण भारत में केवल दिगम्बर परम्परा की ही मूर्तियाँ हैं।

जैन कला की चर्चा के प्रारम्भ में जैन धर्म में मूर्ति पूजन की प्राचीनता पर विचार करना भी प्रासंगिक होगा। भारत की प्राचीनतम सभ्यता सैन्धव सभ्यता है, जिसका काल ल. २५०० ई. पू. है। सैन्धव सभ्यता के अवशेष हमें मुख्यतः हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से प्राप्त होते हैं। मोहनजोदड़ो से हमें ५ ऐसी मुहरें मिली हैं जिन पर कायोत्सर्ग मुद्रा के समान ही दोनों हाथ नीचे लटकाकर खड़ी पुरुष आकृतियाँ बनीं हैं। हड़प्पा से भी एक पुरुष आकृति (कबन्ध) मिली है।[५] उपर्युक्त उदाहरण सिन्धु सभ्यता के ऐसे अवशेष हैं जो अपनी नग्नता और मुद्रा (कायोत्सर्ग के समान) के सन्दर्भ में परवर्ती जिन मूर्तियों का स्मरण कराते हैं।[६] किन्तु सिन्धु लिपि के पूरी तरह पढ़ जाने तक सम्भवतः इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना उचित नहीं होगा।

जैन धर्म में मूर्तिपूजन की प्राचीनता पर विचार करते समय हमें जैन ग्रंथों में वर्णित जीवंतस्वामी मूर्ति की परंपरा पर भी विचार करना होगा, जिसके अनुसार महावीर के जीवनकाल (छठीं शती ई. पू. ५९९–५२७ ई. पू.) में ही उनकी एक प्रतिमा का निर्माण किया गया था। यहाँ ज्ञातव्य है कि महावीर से पूर्व तीर्थंकर मूर्तियों के अस्तित्व का कोई भी साहित्यिक या पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। जैन ग्रंथों में महावीर की यात्रा के संदर्भ में उनके किसी जिन-मंदिर जाने, या जिन मूर्ति के पूजन का अनुल्लेख है। इसके विपरीत महावीर के यक्ष-आयतनों एवं यक्ष-चैत्यों (पूर्णभद्र और मणिभद्र) में विश्राम करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[७]

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org

साहित्यिक परंपरा से ज्ञात होता है कि महावीर के जीवन-काल में ही उनकी चन्दन की एक प्रतिमा का निर्माण किया गया था। इस मूर्ति में महावीर को दीक्षा लेने के लगभग एक वर्ष पूर्व राजकुमार के रूप में अपने महल में ही तपस्या करते हुए अंकित किया गया है। चूंकि यह प्रतिमा महावीर के जीवनकाल में ही निर्मित हुई, अतः उसे जीवंतस्वामी या जीवितस्वामी संज्ञा दी गयी। महावीर के समय के बाद की भी ऐसी मूर्तियों के लिए जीवंतस्वामी शब्द का ही प्रयोग होता रहा। साहित्य और शिल्प दोनों में ही जीवंतस्वामी को मुकुट, मेखला आदि अलंकरणों से युक्त एक राजकुमार के रूप में निरूपित किया गया है।

जीवंतस्वामी मूर्तियों को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय यू. पी. शाह को है।[८] साहित्यिक परंपरा को विश्वसनीय मानते हुए शाह ने महावीर के जीवनकाल से ही जीवंतस्वामी मूर्ति की परंपरा को स्वीकार किया है।[९] उन्होंने साहित्यिक परंपरा की पुष्टि में अकोटा (गुजरात) से प्राप्त जीवंतस्वामी की दो गुप्तयुगीन कांस्य प्रतिमाओं का भी उल्लेख किया है।[१०] इन प्रतिमाओं में जीवंतस्वामी को कायोत्सर्ग मुद्रा में और वस्त्राभूषणों से सज्जित दर्शाया गया है। पहली मूर्ति लगभग पांचवीं शती ई. की है और दूसरी लेख युक्त मूर्ति ल. छठीं शती ई. की है। दूसरी मूर्ति के लेख में **'जीवंतसामी'** खुदा है।[११]

जैनधर्म में मूर्तिनिर्माण एवं पूजन की प्राचीनता के निर्धारण के लिए जीवंतस्वामी मूर्ति की परंपरा की प्राचीनता का निर्धारण आवश्यक है। आगम साहित्य एवं **'कल्पसूत्र'** जैसे प्रारंभिक ग्रंथों में जीवंतस्वामी मूर्ति का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। जीवंतस्वामी मूर्ति के प्राचीनतम उल्लेख आगम ग्रंथों से संबंधित छठीं शती ई. के बाद की उत्तरकालीन रचनाओं, यथा—निर्युक्तियों, टीकाओं, भाष्यों, चूर्णियों आदि में ही प्राप्त होते हैं।[१२] इन ग्रंथों में कौशल, उज्जैन, दशपुर (मंदसोर) विदिशा, पुरी एवं वीतभयपट्टन में जीवंतस्वामी मूर्तियों की विद्यमानता की सूचना प्राप्त होती है।[१३]

जीवंतस्वामी मूर्ति का प्रारंभिकतम उल्लेख वाचक संघदास गणिकृत **वसुदेवहिण्डी** (६१० ई. या ल. एक या दो शताब्दी पूर्व की कृति)[१४] में प्राप्त होता है। ग्रंथ में आर्या सुव्रता नाम की एक गणिनी के जीवंतस्वामी मूर्ति के पूजनार्थ उज्जैन जाने का उल्लेख है।[१५] जिनदास कृत **आवश्यकचूर्णि** (६७६ ई०) में जीवंतस्वामी की प्रथम मूर्ति की कथा प्राप्त होती है। जीवंतस्वामी मूर्ति से संबंधित विस्तृत कथा हेमचंद्र (११६९–७२ ई०) कृत **त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र** (पर्व १०, सर्ग ११) में वर्णित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवंतस्वामी मूर्ति के लक्षणों का भी उल्लेख सर्वप्रथम हेमचंद्र ने ही किया है। अन्य किसी जैन आचार्य ने जीवंतस्वामी मूर्ति के लक्षणों का उल्लेख नहीं किया है। हेमचंद्र ने यह भी उल्लेख किया है कि चौलुक्य शासक कुमारपाल ने वीतभयपट्टन में उत्खनन करवाकर जीवंतस्वामी की प्रतिमा प्राप्त की थी। हेमचंद्र ने स्वयं महावीर के मुख से जीवंतस्वामी मूर्ति के निर्माण का उल्लेख कराते हुए लिखा है कि क्षत्रियकुण्ड ग्राम में दीक्षा लेने के पूर्व छद्मस्थ काल में महावीर का दर्शन विद्युन्माली ने किया था। उस समय उनके आभूषणों से सुसज्जित होने के कारण ही विद्युन्माली ने महावीर की अलंकरण युक्त प्रतिमा का निर्माण किया।[१६] अन्य स्रोतों से भी ज्ञात होता है कि दीक्षा लेने का विचार होते हुए भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के आग्रह के कारण महावीर को कुछ समय तक महल में ही धर्म-ध्यान में समय व्यतीत करना पड़ा था। हेमचंद्र के अनुसार विद्युन्माली द्वारा निर्मित मूल प्रतिमा विदिशा में थी।

उल्लेखनीय है कि किसी दिगंबर ग्रंथ में जीवंतस्वामी मूर्ति की परंपरा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। तदनुरूप दिगंबर स्थलों से जीवंतस्वामी मूर्ति का कोई उदाहरण भी नहीं मिला है। दिगंबर परंपरा में जीवंतस्वामी मूर्ति के अनुल्लेख का एक संभावित कारण प्रतिमा का वस्त्राभूषणों से युक्त होना हो सकता है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि पांचवीं-छठीं शती ई. के पूर्व जीवंतस्वामी के संबंध में हमें किसी प्रकार की ऐतिहासिक सूचना नहीं प्राप्त होती है। इस संदर्भ में महावीर के गणधरों द्वारा रचित आगम साहित्य में जीवंतस्वामी मूर्ति के उल्लेख का पूर्ण अभाव जीवंतस्वामी मूर्ति की परवर्ती ग्रंथों द्वारा प्रतिपादित महावीर की समकालिकता की धारणा पर एक स्वाभाविक संदेह उत्पन्न करता है। **कल्पसूत्र** एवं ई. पूर्व के अन्य ग्रंथों में भी जीवंतस्वामी मूर्ति का अनुल्लेख इसी सन्देह की पुष्टि करता है। वर्तमान स्थिति में जीवंतस्वामी मूर्ति की धारणा को महावीर के समय तक ले जाने का हमारे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

वर्तमान में प्राचीनतम ज्ञात जैन मूर्ति मौर्यकाल की है। यह मूर्ति पटना के समीप लोहानीपुर से मिली है और संप्रति पटना संग्रहालय में सुरक्षित है।[१७] मूर्ति की नग्नता और कायोत्सर्ग मुद्रा इसके जिन मूर्ति होने की सूचना देते हैं। ज्ञातव्य है कि कायोत्सर्ग मुद्रा केवल जिनों के निरूपण में ही प्रयुक्त हुई है। इस मूर्ति के सिर, भुजा और जानु के नीचे का भाग खण्डित है। मूर्ति पर मौर्ययुगीन चमकदार आलेप है। इस मूर्ति के निरूपण में यक्ष मूर्तियों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। लोहानीपुर से शुंगकाल या कुछ बाद की एक अन्य जिन मूर्ति भी मिली है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसमें नीचे लटकती दोनों भुजाएँ भी सुरक्षित हैं।[१८] जैन परंपरा के अनुसार जैन धर्म को लगभग सभी समर्थ मौर्य शासकों का समर्थन प्राप्त था। चन्द्रगुप्त मौर्य का जैन धर्मानुयायी होना तथा जीवन के अंतिम वर्षों में भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत जाना सुविदित है।[१९] अर्थशास्त्र में जयन्त, वैजयन्त, अपराजित एवं अन्य जैन देवों की मूर्तियों का उल्लेख है।[२०] अशोक ने भी निर्ग्रन्थों एवं आजीविकों को दान दिये थे।[२१] संप्रति को भी जैन धर्म का अनुयायी कहा गया है।[२२]

उदयगिरि (पुरी, उड़ीसा) स्थित हाथी गुम्फा के एवं पहली शती ई. पूर्व के खारवेल के लेख में भी जिन प्रतिमा का उल्लेख आया है। लेख में उल्लेख है कि कलिंग की जिस जिन प्रतिमा को नन्दराज 'तिवससत' वर्ष पूर्व कलिंग से मगध ले गया था, उसे खारवेल पुनः वापस ले आया। 'तिवससत' शब्द का अर्थ अधिकांश विद्वान ३०० वर्ष मानते हैं।[२३] अतः खारवेल के लेख के आधार पर भी जिन मूर्ति की प्राचीनता चौथी शती ई. पूर्व तक जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाण मौर्यकाल में निश्चित रूप से जैन धर्म में मूर्तिपूजन की विद्यमानता की सूचना देते हैं। लोहानीपुर की मौर्यकालीन जिन मूर्ति इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त जिन मूर्ति सभी धर्मों में आराध्य देवों की प्राचीनतम ज्ञात मूर्ति भी है।

जैन धर्म में मौर्यकाल में मूर्ति निर्माण की जो परंपरा प्रारंभ हुई, उसका आगे की शताब्दियों में पल्लवन और पुष्पन हुआ। दूसरी-पहली शती ई. पू. की कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्वस्त्र पार्श्वनाथ की दो कांस्य मूर्तियां मिली हैं, प्रथम प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय, बंबई में और दूसरी बक्सर के चौसा ग्राम (भोजपुर, बिहार) से प्राप्त पटना संग्रहालय में सुरक्षित है।[२४] इन मूर्तियों में पार्श्वनाथ के सिर पर पांच और सात सर्पफणों के छत्र हैं। मथुरा से लगभग पहली शती ई. पू. के जैन आयागपटों के उदाहरण मिले हैं। आयागपट उस संक्रमण कालकी शिल्प सामग्री है, जब उपास्य देवों का पूजन प्रतीक और मानवरूप में साथ-साथ हो रहा था।[२५] इन आयागपटों पर जैन प्रतीकों[२६] के साथ ही जिन मूर्ति भी उत्कीर्ण हुई। लगभग पहली ई. पू. के एक आयागपट (राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक जे. २५३) पर सात सर्पफणों के छत्र युक्त पार्श्वनाथ की ध्यानस्थ मूर्ति बनी है।

चौसा (बिहार) और मथुरा (उ. प्र.) से शुंग-कुषाण काल की पर्याप्त जैन मूर्तियाँ मिली हैं। मथुरा से ल. १५० ई. पू. से ग्यारहवीं शती ई. के मध्य की प्रभूत जैन मूर्तियाँ मिली हैं। ये मूर्तियाँ आरम्भ से मध्य युग तक के प्रतिमा विज्ञान की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकास-शृंखला को प्रदर्शित करती हैं। शुंग-कुषाण काल में मथुरा में सर्वप्रथम जिनों के वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न का उत्कीर्णन और जिनों का ध्यान मुद्रा में निरूपण प्रारम्भ हुआ। तीसरी से पहली शती ई. पू. की ऊपर वर्णित जिन मूर्तियाँ कायोत्सर्ग मुद्रा में निरूपित हैं। ज्ञातव्य है कि जिनों के निरूपण में सर्वदा यही दो मुद्राएँ प्रयुक्त हुई हैं।

मथुरा में कुषाण काल में ऋषभनाथ, सम्भवनाथ, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की मूर्तियाँ, ऋषभनाथ एवं महावीर के जीवन दृश्य, आयाग-पट, जिन-चौमुखी तथा सरस्वती एवं नैगमेषी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं।

राज्य संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक जे. ६१६) में सुरक्षित एक पट्ट पर महावीर के गर्भापहरण का दृश्य है।[२७] राज्य संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक जे. ३५४) के ही एक अन्य पट्ट पर इन्द्र सभा की नर्तकी नीलांजना को ऋषभनाथ की सभा में नृत्य करते हुए दिखाया गया है। ज्ञातव्य है कि नीलांजना के कारण ही ऋषभनाथ को वैराग्य प्राप्त हुआ था।[२८]

गुप्तकाल में मथुरा एवं चौसा के अतिरिक्त राजगिर, विदिशा, वाराणसी एवं अकोटा (गुजरात) से भी जैन मूर्तियाँ मिली हैं। इस काल में केवल जिनों की स्वतन्त्र एवं जिन-चौमुखी मूर्तियाँ ही बनीं। इनमें ऋषभनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत,[२९] नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर का निरूपण हुआ है। श्वेतांबर जिन मूर्तियाँ (अकोटा) सर्वप्रथम इसी काल में उत्कीर्ण हुईं।

दसवीं से बारहवीं शती ई. के मध्य की जैन प्रतिमाविज्ञान की प्रचुर ग्रंथ एवं शिल्प सामग्री प्राप्त होती है। सर्वाधिक जैन मदिर और फलतः मूर्तियाँ भी इसी काल में बनीं। गुजरात और राजस्थान में श्वेतांबर एवं अन्य क्षेत्रों में दिगम्बर सम्प्रदाय की मूर्तियों की प्रधानता है। गुजरात और राजस्थान के श्वेतांबर जैन मन्दिरों में २४ देवकुलिकाओं को संयुक्त कर उनमें २४ जिनों की मूर्तियाँ स्थापित करने की परंपरा लोकप्रिय हुई। श्वेतांबर स्थलों की तुलना में दिगम्बर स्थलों पर जिनों की अधिक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं, जिनमें स्वतन्त्र तथा द्वितीर्थी, त्रितीर्थी एवं चौमुखी मूर्तियाँ हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से जिनों के निरूपण में श्वेतांबर स्थलों पर एकरसता और दिगम्बर स्थलों पर विविधता दृष्टिगत होती है।

दिगम्बर स्थलों की जिन मूर्तियों में नवग्रहों, बाहुबली एवं पारम्परिक यक्ष-यक्षी युगलों के अतिरिक्त चक्रेश्वरी, अंबिका एवं लक्ष्मी जैसी कुछ अन्य देवियों का भी निरूपण हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेतांबर स्थलों पर जिन मूर्तियों के पीठिका लेखों में जिनों के नामोल्लेख तथा दिगम्बर स्थलों पर उनके लांछनों के अंकन की परम्परा दृष्टिगत होती है।

जिनों के जीवन दृश्यों एवं समवसरणों के अंकन के उदाहरण केवल श्वेतांबर स्थलों पर ही सुलभ हैं। ये उदाहरण ग्यारहवीं से तेरहवीं शती ई. के मध्य के हैं, और ओसिया, कुंभारिया, आबू (विमलवसही, लूणवसही) एवं जालोर से मिले हैं।

श्वेतांबर स्थलों पर जिनों के बाद १६ महाविद्याओं और दिगम्बर स्थलों पर यक्ष-यक्षियों के चित्रण सर्वाधिक लोकप्रिय थे। १६ महाविद्याओं में रोहिणी, वज्रांकुशी, वज्रशृंखला, अप्रतिचक्रा, अच्छुप्ता एवं वैरोट्या की ही सर्वाधिक मूर्तियाँ मिली हैं। शांतिदेवी, ब्रह्मशांति यक्ष, जीवन्तस्वामी महावीर, गणेश एवं २४ जिनों के माता-पिता के सामूहिक अंकन (१०वीं–१२वीं शती ई.) भी श्वेतांबर स्थलों पर ही लोकप्रिय थे। सरस्वती, बलराम, कृष्ण, अष्ट दिक्पाल, नवग्रह एवं क्षेत्रपाल आदि की मूर्तियाँ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही स्थलों पर उत्कीर्ण हुईं।

पूर्व मध्य युग में श्वेतांबर स्थलों पर अनेक ऐसी देवियों की भी मूर्तियाँ दृष्टिगत होती हैं, जिनका जैन परम्परा में अनुल्लेख है। इनमें हिन्दू शिवा और जैन सर्वानुभूति (या कुबेर) के लक्षणों के प्रभाव वाली देवियों की मूर्तियाँ सबसे अधिक हैं।

जैन युगलों और राम-सीता तथा रोहिणी, मनोवेगा, गौरी, गांधारी यक्षियों और गरुड़ यक्ष की मूर्तियाँ केवल दिगम्बर स्थलों से ही मिली हैं। दिगम्बर स्थलों से परम्परा विरुद्ध और परम्परा में अवर्णित दोनों प्रकार की कुछ मूर्तियाँ मिली हैं। द्वितीर्थी और त्रितीर्थी जिन मूर्तियों का अंकन और दो उदाहरणों में त्रितीर्थी मूर्तियों में सरस्वती और बाहुबली का अंकन, बाहुबली एवं अंबिका की दो मूर्तियों में यक्ष-यक्षी का निरूपण तथा ऋषभनाथ की कुछ मूर्तियों में पारम्परिक यक्ष-यक्षी, गोमुख-चक्रेश्वरी, के साथ ही अम्बिका, लक्ष्मी, सरस्वती आदि का अंकन इस कोटि के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं। इस वर्ग की मूर्तियाँ मुख्यतः देवगढ़ एवं खजुराहो से मिली हैं।

श्वेतांबर और दिगम्बर स्थलों की शिल्प-सामग्री के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पुरुष देवताओं की मूर्तियाँ देवियों की तुलना में नगण्य हैं। जैन कला में देवियों की विशेष लोकप्रियता तांत्रिक प्रभाव का परिणाम हो सकती है। जैन परम्परा पर तान्त्रिक प्रभाव के अध्ययन की दृष्टि से कतिपय सन्दर्भों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना उपयुक्त होगा। खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर (९५०-७० ई.) की भित्ति पर चारों तरफ शक्तियों के साथ आलिंगन मुद्रा में देवयुगलों की कई मूर्तियाँ हैं। इनमें शिव, विष्णु, ब्रह्मा, अग्नि, कुबेर, राम, बलराम आदि की शक्ति सहित मूर्तियाँ हैं जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्टतः हिन्दू प्रभाव दरशाती हैं। इसी मन्दिर के उत्तरी और दक्षिणी शिखर पर कामक्रिया में रत दो युगल भी आमूर्तित हैं। काम क्रिया से सम्बन्धित या आलिंगन मुद्रा में साधुओं के कुछ अंकन भी देवगढ़ के जैन मन्दिरों के प्रवेश द्वारों पर उपलब्ध हैं। उपर्युक्त दिगम्बर स्थलों के अतिरिक्त नाडलाई (पाली, राजस्थान) के के शांतिनाथ मन्दिर (श्वेताम्बर) के अधिष्ठान पर भी कामक्रिया में रत कई युगलों का अंकन हुआ है। जैन मन्दिरों पर देवताओं की शक्ति सहित आलिंगन मूर्तियाँ एवं कामक्रिया से सम्बन्धित अंकन परम्परा सम्मत नहीं हैं। जैन धर्म उदार धर्म रहा है। जिसकी धार्मिक मान्यताओं में समय के अनुरूप कुछ आवश्यक परिवर्तन या शिथिलन होते रहें हैं। मध्य युग तांत्रिक प्रभाव का युग था। फलतः जैन धर्म में भी उस प्रभाव को किंचित् नियन्त्रण के साथ स्वीकार किया गया, जिसे कला में भी उपर्युक्त स्थलों पर अभिव्यक्ति मिली। पर इस प्रभाव को उद्दाम नहीं होने दिया गया जैसा कि खजुराहो और उड़ीसा के हिन्दू मन्दिरों पर कामक्रिया से सम्बन्धित अंकनों के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। जैन ग्रंथ **हरिवंशपुराण** (जिनसेन कृत, ७८३ ई.) में एक स्थल पर उल्लेख है कि सेठ कामदत्त ने एक जिनमन्दिर का निर्माण किया और सम्पूर्ण प्रजा के आकर्षण के लिए इसी मन्दिर में कामदेव और रति की भी मूर्ति बनवायी। ग्रंथ में यह भी उल्लेख है कि यह जिन मन्दिर कामदेव के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है और कौतुक-वश आये लोगों को जिन धर्म की प्राप्ति का कारण है।[३०] जिन मूर्तियों के पूजन के साथ ग्रंथ में रति और कामदेव की मूर्तियों के पूजन का भी उल्लेख है।[३१] **हरिवंशपुराण** का उल्लेख स्पष्टतः जैन धर्म में आये शिथिलन और उसके उद्देश्य को स्पष्ट करता है।

पाँचवीं शती ई. के अन्त तक[३२] जैन देवकुल का मूल स्वरूप निर्धारित हो गया था, जिसमें २४ जिन, यक्ष और यक्षियाँ, विद्याएँ, सरस्वती, लक्ष्मी, कृष्ण, बलराम, राम, नैगमेषी एवं अन्य शलाकापुरुष तथा कुछ देवता सम्मिलित थे। इस काल तक जैन देवकुल के सदस्यों के केवल नाम और कुछ सामान्य विशेषताएँ ही निर्धारित हुई। उनकी लाक्षणिक विशेषताओं के विस्तृत उल्लेख आठवीं से बारहवीं-तेरहवीं शती ई. के मध्य के जैन ग्रंथों में ही मिलते हैं। पूर्ण विकसित जैन देवकुल में २४ जिनों एवं अन्य शलाकापुरुषों[33] सहित २४ यक्ष-यक्षी युगल, १६ महाविद्याएँ, दिक्पाल, नवग्रह, क्षेत्रपाल, गणेश, ब्रह्मशांति यक्ष, कपर्द्दि यक्ष, बाहुबली, ६४ योगिनी, शांतिदेवी, जिनों के माता-पिता एवं पंच परमेष्ठी आदि सम्मिलित हैं। श्वेतांबर और दिगम्बर संप्रदायों के ग्रंथों में जैन देवकुल का विकास बाह्य दृष्टि से समरूप है। केवल देवताओं के नामों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं लाक्षणिक विशेषताओं के सन्दर्भ में ही दोनों परम्पराओं में भिन्नता दृष्टिगत होती है। महावीर के गर्भापहरण, जीवन्तस्वामी महावीर की मूर्ति एवं मल्लिनाथ के नारी तीर्थंकर होने के उल्लेख केवल श्वेतांबर ग्रंथों में ही प्राप्त होते हैं।

२४ जिनों की कल्पना जैन धर्म की धुरी है। ई. सन् के प्रारम्भ से पूर्व ही २४ जिनों की सूची निर्धारित हो गई थी। २४ जिनों की प्रारम्भिक सूचियाँ **समवायांग सूत्र, भगवती सूत्र, कल्पसूत्र** एवं **पउमचरियं** में मिलती हैं।[३४] शिल्प में जिन मूर्ति का उत्कीर्णन लगभग तीसरी शती ई. पूर्व में प्रारम्भ हुआ।

कल्पसूत्र में ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के जीवन-वृत्तों के विस्तार से उल्लेख हैं। परवर्ती ग्रंथों में भी इन्हीं चार जिनों की सर्वाधिक विस्तार से चर्चा है। शिल्प में भी इन्हीं चार जिनों का निरूपण सबसे पहले कुषाण काल में प्रारम्भ हुआ और विभिन्न स्थलों पर आगे भी इन्हीं की सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं।

मूतियों में इन की लोकप्रियता का क्रम इस प्रकार रहा है : ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर और नेमिनाथ। जैन परम्परा और मूर्तियों में इन्हीं चार जिनों के यक्षा-यक्षी युगलों को भी सर्वाधिक लोकप्रियता मिली। उपर्युक्त चार जिनों के बाद अजितनाथ, संभवनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, शांतिनाथ एवं मुनिसुव्रत की सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। अन्य जिनों की मूर्तियाँ संख्या की दृष्टि से नगण्य हैं। तात्पर्य यह कि उत्तर भारत में २४ में से केवल १० ही जिनों का निरूपण लोकप्रिय था।

जिन मूर्तियों में सर्वप्रथम पार्श्वनाथ का लक्षण नियत हुआ। लगभग दूसरी-पहली शती ई. पू. की मूर्तियों में पार्श्वनाथ के साथ शीर्षभाग में सात सर्पफणों का छत्र प्रदर्शित हुआ। इसके बाद मथुरा एवं चौसा की पहली शती ई. की मूर्तियों में ऋषभनाथ के कन्धों पर लटकती हुई जटाओं का प्रदर्शन हुआ। कुषाण काल में ही मथुरा में नेमिनाथ के साथ बलराम और कृष्ण का अंकन हुआ। इस प्रकार कुषाण काल तक ऋषभनाथ, नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ के लक्षण निश्चित हुए। शुंग-कुषाण-काल में मथुरा में ही श्रीवत्स और ध्यान मुद्रा का भी अंकन प्रारम्भ हुआ। मथुरा में ही कुषाण काल में सर्वप्रथम जिन मूर्तियों में अष्ट प्रतिहार्यों, धर्मचक्र, मांगलिक चिह्नों (स्वस्तिक, मत्स्ययुगल, श्रीवत्स, पूर्णघट) एवं उपासकों आदि का अंकन हुआ। कुषाणकालीन जिन मूर्तियों के प्रतिहार्य–सिंहासन, प्रभामण्डल, चामरधर सेवक, उड्डीयमान मालाधर, छत्र, चैत्यवृक्ष एवं दिव्यध्वनि हैं।

गुप्तकाल में जिनों के साथ सर्वप्रथम लांछनों, यक्ष-यक्षी युगलों एवं अष्टप्रतिहार्यों[३५] का अंकन प्रारम्भ हुआ। राजगिर एवं भारतकला भवन, वाराणसी (क्रमांक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६१) की नेमिनाथ और महावीर की दो मूर्तियों में पहली बार लांछन का, और अकोटा की ऋषभनाथ की मूर्ति (लगभग छठीं शती ई.) में यक्ष-यक्षी (सर्वानुभूति एवं अंबिका) का चित्रण हुआ।[३६] गुप्तकाल में सिंहासन के छोरों एवं परिकर में छोटी जिन मूर्तियों का भी अंकन प्रारम्भ हुआ। अकोटा की श्वेतांबर जिन मूर्तियों में पहली बार पीठिका के मध्य में धर्मचक्र के दोनों ओर दो मृगों का चित्रण किया गया, जो सम्भवतः बौद्ध कला का प्रभाव है।

लगभग आठवीं-नवीं शती ई० में २४ जिनों के स्वतन्त्र लांछनों की सूची बनी, जो **कहावली, प्रवचनसारोद्धार**, एवं **तिलोयपण्णत्ति** में सुरक्षित हैं।[३७]

श्वेतांबर और दिगम्बर परम्पराओं में सुपार्श्वनाथ, शीतलनाथ, अनन्तनाथ एवं अरनाथ के अतिरिक्त अन्य जिनों के लांछनों में कोई भिन्नता नहीं है। मूर्तियों में सुपार्श्वनाथ तथा पार्श्वनाथ के साथ क्रमशः स्वस्तिक और सर्प लांछनों का अंकन दुर्लभ है, क्योंकि पाँच और सात सर्पफणों के छत्रों के प्रदर्शन के बाद जिनों की पहचान के लिए लांछनों का प्रदर्शन आवश्यक नहीं समझा गया। पर लटकती जटाओं में शोभित ऋषभनाथ के साथ वृषभलांछन का चित्रण नियमित था, क्योंकि आठवीं शती ई. के बाद के दिगम्बर स्थलों (देवगढ़, खजुराहो) में ऋषभनाथ के साथ-साथ अन्य जिन मूर्तियों पर भी जटाएँ प्रदर्शित की गयी हैं।

मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से लगभग नवीं-दसवीं शती ई. तक जिन मूर्तियाँ पूर्णतः विकसित हो गईं। पूर्ण विकसित जिन मूर्तियों में लांछनों, यक्ष-यक्षी युगलों एवं अष्ट-प्रतिहार्यों के साथ ही परिकर में छोटी जिन मूर्तियों, नवग्रहों, गजाकृतियों, धर्मचक्र, विद्याओं एवं अन्य आकृतियों का चित्रण हुआ। सिंहासन के मध्य में पद्म से युक्त शांतिदेवी, गजों एवं मृगों तथा कलशधारी गोमुख एवं वीणा और वेणुवादन करती आकृतियों का चित्रण केवल श्वेतांबर स्थलों पर लोकप्रिय था। श्वेतांबर ग्रन्थ **वास्तुविद्या** के जिनपरिकरलक्षण (२२.१०–१२, ३३–३९) में इन विशेषताओं के उल्लेख हैं। ग्यारहवीं से तेरहवीं शती ई. के मध्य श्वेतांबर स्थलों पर ऋषभनाथ, शांतिनाथ, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर के जीवनदृश्यों का विशद अंकन हुआ। जिसके उदाहरण ओसिया की देवकुलिकाओं, कुम्भारिया के शांतिनाथ एवं महावीर मन्दिरों, जालोर के पार्श्वनाथ मन्दिर और आबू के विमलवसही और लूणवसही से मिले हैं। इनमें जिनों के पंचकल्याणकों (च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य, निर्वाण) एवं कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं को दरशाया गया है, जिनमें भरत और बाहुबली के युद्ध, शांतिनाथ के पूर्वजन्म में कपोत की प्राणरक्षा की कथा, नेमिनाथ के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के विवाह और वैराग्य, मुनिसुव्रत के जीवन की अश्वावबोध और शकुनिका विहार की कथाएँ तथा पार्श्वनाथ एवं महावीर के पूर्वजन्म की कथाएँ और तपस्या के समय उपस्थित उपसर्ग मुख्य हैं।

उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के दिगम्बर स्थलों पर मध्ययुग में नेमिनाथ के साथ उनके चचेरे भाइयों बलराम और कृष्ण (देवगढ़, मथुरा), पार्श्वनाथ के साथ सर्पफणों के छत्र वाले चामरधारी धरण एवं छत्रधारिणी पद्मावती, तथा जिन मूर्तियों के परिकर में बाहुबली, जीवन्तस्वामी, क्षेत्रपाल, सरस्वती, लक्ष्मी आदि के अंकन विशेष लोकप्रिय थे।

बिहार, उड़ीसा एवं बंगाल की जिन मूर्तियों में यक्ष-यक्षी युगलों, सिंहासन, धर्मचक्र, गजों, दुन्दुभिवादकों आदि का अंकन लोकप्रिय नहीं था। लगभग दशवीं शती ई० में जिन मूर्तियों के परिकर में २३ या २४ छोटी जिन मूर्तियों का अंकन प्रारम्भ हुआ। बंगाल की छोटी जिन मूर्तियाँ अधिकांशतः लांछनों से युक्त हैं।

जैन ग्रंथों में द्वितीर्थी एवं त्रितीर्थी जिन मूर्तियों के उल्लेख नहीं हैं। पर देवगढ़ एवं खजुराहो जैसे दिगम्बर स्थलों पर नवीं से बारहवीं शती ई. के मध्य इनका उत्कीर्णन हुआ। इन मूर्तियों में दो या तीन अलग-अलग जिनों को कायोत्सर्ग मुद्रा में एक साथ निरूपित किया गया है। इन जिनों के साथ कभी-कभी लांछनों, यक्ष-यक्षी युगलों एवं अष्टप्रातिहार्यों का चित्रण हुआ है।

जिन चौमुखी या सर्वतोभद्रिका जिन मूर्तियों का उत्कीर्णन पहली शती. ई. में मथुरा में प्रारम्भ हुआ, और आगे की शताब्दियों में भी सभी क्षेत्रों में लोकप्रिय रहा। प्रतिमा सर्वतोभद्रिका या सर्वतोभद्र प्रतिमा का अर्थ है वह प्रतिमा जो सभी ओर से शुभ या मंगलकारी है।[३८] चौमुखी मूर्तियों में चार दिशाओं में चार ध्यानस्थ या कायोत्सर्ग जिन मूर्तियाँ उत्कीर्ण होती हैं। जिन चौमुखी की धारणा को विद्वानों ने जिन समवसरण की प्रारम्भिक कल्पना पर आधारित और उसमें हुए विकास का सूचक माना है।[३९] पर इस प्रभाव को स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ हैं।[४०] समवसरण वह देवनिर्मित सभा है, जहाँ कैवल्य प्राप्ति के बाद जिन अपना उपदेश देते हैं। समवसरण तीन प्राचीरों वाला भवन है, जिसके ऊपरी भाग में अष्टप्रातिहार्यों से युक्त जिन ध्यानमुद्रा में (पूर्वाभिमुख) विराजमान होते हैं। सभी दिशाओं के श्रोता जिन का दर्शन कर सकें, इस उद्देश्य से व्यंतर देवों ने अन्य तीन दिशाओं में भी उसी जिन की प्रतिमाएँ स्थापित कीं। यह उल्लेख सर्वप्रथम आठवीं-नवीं शती ई. के जैन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में चार दिशाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में चार जिन मूर्तियों के निरूपण का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में कुषाणकालीन जिन चौमुखी में चार अलग-अलग जिनों के उत्कीर्णन को समवसरण की धारणा से प्रभावित और उसमें हुए किसी विकास का सूचक नहीं माना जा सकता। आठवीं-नवीं शती ई. के ग्रन्थों में भी समवसरण में किसी एक ही जिन की चार मूर्तियों के निरूपण का उल्लेख है जब कि कुषाणकालीन चौमुखी में चार अलग-अलग जिनों को चित्रित किया गया है। मथुरा की १०२३ ई. की एक चौमुखी मूर्ति में ही सर्वप्रथम समवसरण की धारणा को अभिव्यक्ति मिली। पीठिका लेख में भी उल्लेख है कि यह महावीर की जिन चौमुखी है। समवसरण में जिन सदैव ध्यानमुद्रा में आसीन होते हैं, जब कि कुषाणकालीन चौमुखी मूर्तियों में जिन सदैव कायोत्सर्ग में खड़े हैं। जहाँ हमें समकालीन जैन ग्रंथों में जिन चौमुखी मूर्ति की कल्पना का निश्चित आधार नहीं प्राप्त होता है, वहीं तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती शिल्प में ऐसे एक मुख और बहुमुखी शिवलिंग एवं यक्ष-मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे जिन चौमुखी की धारणा के प्रभावित होने की सम्भावना हो सकती है।[४१] जिन चौमुखी पर स्वस्तिक और मौर्य शासक अशोक के सिंह एवं वृषभ स्तम्भ-शीर्षों का भी प्रभाव असम्भव नहीं है।[४२]

चौमुखी जिन मूर्तियों को मुख्यतः दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में ऐसी मूर्तियाँ हैं, जिनमें एक ही जिन की चार मूर्तियाँ बनीं हैं। दूसरे वर्ग की मूर्तियों में चारों ओर चार अलग-अलग जिनों की मूर्तियाँ हैं। पहले वर्ग की मूर्तियों का उत्कीर्णन लगभग सातवीं-आठवीं शती ई. में प्रारम्भ हुआ। किन्तु दूसरे वर्ग की मूर्तियाँ पहली शती ई. से ही बनने लगीं। मथुरा की कुषाणकालीन चौमुखी मूर्तियाँ इसी कोटि की हैं। पहले वर्ग की मूर्तियाँ तुलनात्मक दृष्टि से संख्या में बहुत कम हैं, और इनमें जिनों के लांछन सामान्यतः नहीं प्रदर्शित हैं। मथुरा की कुषाणकालीन चौमुखी मूर्तियों के समान ही दूसरे वर्ग की मूर्तियों में अधिकांशतः केवल वृषभनाथ और पार्श्वनाथ की ही पहचान सम्भव है। कुछ मूर्तियों में अजितनाथ, सम्भवनाथ, सुपार्श्वनाथ, चंद्रप्रभ, शांतिनाथ, नेमिनाथ एवं महावीर की भी मूर्तियाँ बनी हैं। बंगाल में चारों जिनों के साथ अलग-अलग लांछनों, और देवगढ़ तथा विमलवसही में यक्ष-यक्षी युगलों का चित्रण प्राप्त होता है। लगभग दशवीं शती ई. में चतुर्विंशति जिन-पट्टों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। ग्यारहवीं शती ई. का एक विशिष्ट चतुर्विंशति जिन-पट्ट देवगढ़ के साहू जैन संग्रहालय में है। इसमें जिनों के साथ अष्टप्रातिहार्यों, लांछनों एवं यक्ष-यक्षी युगलों का चित्रण हुआ है।

भगवतीसूत्र, **तत्त्वार्थसूत्र**, **अन्तगडदसाओ** एवं **पउमचरियं** जैसे प्रारम्भिक जैन ग्रंथों में यक्षों के प्रचुर उल्लेख हैं।[४३] इनमें मणिभद्र और पूर्णभद्र यक्षों और

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

बहुपुत्रिका यक्षी की सर्वाधिक चर्चा है। जिनों से संश्लिष्ट प्राचीनतम यक्ष-यक्षी युगल सर्वानुभूति (या कुबेर) और अम्बिका की कल्पना प्राचीन परम्परा के मणिभद्र-पूर्णभद्र यक्षों और बहुपुत्रिका यक्षी से प्रभावित है। लगभग छठीं शती ई. में जिनों के शासन और उपासक देवों के रूप में मूर्तियों में यक्ष-यक्षी युगलों का निरूपण प्रारंभ हुआ, जिसका प्रारंभिकतम उदाहरण (छठीं शती ई.) अकोटा से मिला है। यक्ष और यक्षियों का अंकन जिन मूर्तियों के सिंहासन या पीठिका के दाहिने और बायें छोरों पर किया गया है।

लगभग छठीं से नवीं शती ई० तक के ग्रंथों में केवल यक्षराज (सर्वानुभूति), धरणेन्द्र, चक्रेश्वरी, अंबिका एवं पद्मावती की ही कुछ लाक्षणिक विशेषताओं के उल्लेख हैं। २४ जिनों के स्वतंत्र यक्ष-यक्षी युगलों की सूची लगभग आठवीं-नवीं शती ई. में निर्धारित हुई। सबसे प्रारम्भ की सूचियां **कहावली, तिलोयपण्णत्ति** और **प्रवचनसारोद्धार** में हैं।[४४] २४ यक्ष-यक्षी युगलों की स्वतंत्र लाक्षणिक विशेषताएं ग्यारहवीं-बारहवीं शती ई. में नियत हुईं, जिनके उल्लेख **निर्वाणकलिका, त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र, प्रतिष्ठासार संग्रह, प्रतिष्ठासारोद्धार, आचारदिनकर, प्रतिष्ठा-तिलकम्** एवं अन्य शिल्पशास्त्रों में हैं। श्वेतांबर ग्रंथों में दिगंबर परंपरा के कुछ पूर्व ही यक्ष और यक्षियों की लाक्षणिक विशेषताएं निश्चित हो गयी थीं। दोनों परंपराओं में यक्ष एवं यक्षियों के नामों और लाक्षणिक विशेषताओं की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगत होती है। दिगंबर ग्रंथों में यक्ष और यक्षियों के नाम और उनकी लाक्षणिक विशेषताएं श्वेतांबर ग्रंथों की अपेक्षा स्थिर और एकरूप हैं।

दोनों परंपराओं की सूचियों में मातंग, यक्षेश्वर एवं ईश्वर यक्षों तथा नरदत्ता, मानवी, अच्युता एवं कुछ अन्य यक्षियों के नामोल्लेख एक से अधिक जिनों के साथ किये गये हैं। भृकुटि का यक्ष और यक्षी दोनों के रूप में उल्लेख है। २४ यक्ष और यक्षियों की सूची में से अधिकांश के नाम एवं उनकी लाक्षणिक विशेषताएँ हिन्दू और कुछ उदाहरणों में बौद्ध देवकुल से प्रभावित हैं। जैनधर्म में हिन्दू देवकुल के विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, स्कन्द कार्तिकेय, काली, गौरी, सरस्वती, चामुण्डा; और बौद्ध देवकुल की तारा, वज्रश्रृंखला, वज्रतारा एवं वज्रांकुशी के नामों और लाक्षणिक विशेषताओं को ग्रहण किया गया।[४५] जैन देवकुल पर ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के देवों का प्रभाव दो प्रकार का है। प्रथम, जैनों ने इतर धर्मों के देवों के केवल नाम ग्रहण किये और स्वयं उनकी स्वतंत्र लाक्षणिक विशेषताएँ निर्धारित कीं। गरुड़, वरुण, कुमार यक्षों और गौरी, काली, महाकाली, अम्बिका एवं पद्मावती यक्षियों के संदर्भ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्राप्त होने वाला प्रभाव इसी कोटि का है। द्वितीय, जैनों ने देवताओं के एक वर्ग की लाक्षणिक विशेषताएँ इतर धर्मों के देवों से ग्रहण कीं। कभी-कभी लाक्षणिक विशेषताओं के साथ ही साथ इन देवों के नाम भी हिन्दू और बौद्ध देवों से प्रभावित हैं। इस वर्ग में आने वाले यक्ष-यक्षियों में ब्रह्मा, ईश्वर, गोमुख, भृकुटि, षण्मुख, यक्षेन्द्र, पाताल, धरणेन्द्र एवं कुबेर यक्ष, और चक्रेश्वरी, विजया, निर्वाणी, तारा एवं वज्र-शृंखला यक्षियां प्रमुख हैं।

हिन्दू देवकुल से प्रभावित यक्ष-यक्षी युगल तीन भागों में विभाज्य हैं। पहली कोटि में ऐसे यक्ष-यक्षी युगल हैं जिनके मूल देवता आपस में किसी प्रकार संबंधित नहीं हैं। अधिकांश यक्ष-यक्षी युगल इसी वर्ग के हैं। दूसरी कोटि में ऐसे यक्ष-यक्षी युगल हैं जो मूल रूप में हिन्दू देवकुल में भी आपस में संबंधित हैं, जैसे श्रेयांशनाथ के ईश्वर एवं गौरी यक्ष-यक्षी युगल। तीसरी कोटि में ऐसे यक्ष-यक्षी युगल हैं जिनमें यक्ष एक और यक्षी दूसरे स्वतंत्र संप्रदाय के देवता से प्रभावित हैं। ऋषभनाथ के गोमुख-यक्ष एवं चक्रेश्वरी यक्षी इसी कोटि के हैं जो शिव और वैष्णवी से प्रभावित हैं; शिव और वैष्णवी क्रमशः शैव एवं वैष्णव धर्म के प्रतिनिधि देव हैं।

लगभग छठीं शती ई. में सर्वप्रथम सर्वानुभूति एवं अंबिका को अकोटा में मूर्त अभिव्यक्ति मिली। इसके बाद धरणेन्द्र और पद्मावती की मूर्तियाँ बनीं, और लगभग दसवीं शती ई. से अन्य यक्ष-यक्षियों की भी मूर्तियां बनने लगीं लगभग छठीं शती ई. में जिन मूर्तियों में और लगभग नवीं शती ई० में स्वतंत्र मूर्तियों के रूप में यक्ष-यक्षियों का निरूपण प्रारंभ हुआ। लगभग छठीं से नवीं शती ई. के मध्य की ऋषभनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं कुछ अन्य जिनों की मूर्तियों में सर्वानुभूति (कुबेर) एवं अंबिका ही आमूर्तित हैं। लगभग दसवीं शती ई. से सर्वानुभूति एवं अंबिका के स्थान पर पारंपरिक या स्वतंत्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी युगलों का निरूपण प्रारंभ हुआ, जिसके मुख्य उदाहरण देवगढ़, ग्यारसपुर, खजुराहो एवं राज्य संग्रहालय, लखनऊ में हैं। इन स्थलों की दसवीं शती ई. की मूर्तियों में ऋषभनाथ और नेमिनाथ के साथ क्रमशः गोमुख-चक्रेश्वरी और सर्वानुभूति—अंबिका तथा शांतिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर के साथ स्वतंत्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी उत्कीर्ण हैं।

नवीं शती ई. के बाद बिहार, उड़ीसा और बंगाल के अतिरिक्त अन्य सभी क्षेत्रों की जिन मूर्तियों में यक्ष-यक्षी युगलों का नियमित अंकन हुआ है। स्वतंत्र अंकनों में यक्ष की तुलना में यक्षियों के चित्रण अधिक लोकप्रिय थे। २४ यक्षियों के सामूहिक अंकन के हमें तीन उदाहरण मिले हैं।[४६] पर २४ यक्षों के सामूहिक चित्रण का संभवतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई प्रयास ही नहीं किया गया। यक्षों की केवल द्विभुजी और चतुर्भुजी मूर्तियाँ बनीं, पर यक्षियों की दो से बीस भुजाओं तक की मूर्तियाँ मिली हैं।

यक्ष और यक्षियों की सर्वाधिक जिन-संयुक्त और स्वतंत्र मूर्तियाँ उत्तर-प्रदेश एवं मध्य-प्रदेश के दिगंबर स्थलों पर उत्कीर्ण हुयीं। अतः यक्ष एवं यक्षियों के मूर्ति-विज्ञान परक विकास के अध्ययन की दृष्टि से इस क्षेत्र का विशेष महत्त्व है। इस क्षेत्र में दशवीं से बारहवीं शती ई. के मध्य ऋषभनाथ, नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ के साथ पारंपरिक, और सुपार्श्वनाथ, चंद्रप्रभ, शांतिनाथ एवं महावीर के साथ स्वतंत्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी युगल निरूपित हुए। अन्य जिनों के साथ यक्ष-यक्षी द्विभुज और सामान्य लक्षणों वाले हैं। इस क्षेत्र में चक्रेश्वरी एवं अंबिका की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। साथ ही रोहिणी, मनोवेगा, गौरी, गांधारी, पद्मावती एवं सिद्धायिका की भी कुछ मूर्तियाँ मिली हैं। चक्रेश्वरी एवं पद्मावती की मूर्तियों में सर्वाधिक विकास दृष्टिगत होता है। यक्षों में केवल सर्वानुभूति, गरुड़ (देवगढ़) एवं धरणेन्द्र की ही कुछ स्वतंत्र मूर्तियाँ मिली हैं। इस क्षेत्र में २४ यक्षियों के सामूहिक अंकन के भी दो उदाहरण हैं, जो देवगढ़ (मंदिर १२ ई. ८६२) से मिले हैं। देवगढ़ के उदाहरण में अंबिका के अतिरिक्त अन्य किसी यक्षी के साथ पारंपरिक विशेषताएँ नहीं प्रदर्शित हैं। देवगढ़ समूह की अधिकांश यक्षियां सामान्य लक्षणों वाली और समरूप, तथा कुछ अन्य जैन महाविद्याओं एवं सरस्वती आदि के स्वरूपों से प्रभावित हैं।

गुजरात और राजस्थान में अंबिका की सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। चक्रेश्वरी, एवं सिद्धायिका की भी मूर्तियाँ मिली हैं। यक्षों में केवल गोमुख, वरुण (१, ओसिया महावीर मंदिर) सर्वानुभूति एवं पार्श्व की ही स्वतंत्र मूर्तियाँ हैं। सर्वानुभूति की मूर्तियाँ सर्वाधिक हैं। इस क्षेत्र में छठीं से बारहवीं शती ई. तक सभी जिनों के साथ एक ही यक्ष-यक्षी युगल, सर्वानुभूति एवं अंबिका, निरूपित हैं। केवल कुछ उदाहरणों में ऋषभ-नाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर के साथ पारंपरिक या स्वतंत्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी उत्कीर्ण हैं। ये उदाहरण ओसिया, आबू एवं कुंभारिया जैसे स्थलों से मिले हैं।

बिहार, उड़ीसा एवं बंगाल में यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ नगण्य हैं। केवल चक्रेश्वरी, अंबिका एवं पद्मावती की कुछ स्वतंत्र मूर्तियाँ मिली हैं। उड़ीसा की नव-मुनि एवं बारभुजी गुफाओं (११वीं—१२वीं शती ई.) में क्रमशः सात और चौबीस यक्षियों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। बारभुजी गुफा की २४ यक्षी मूर्तियां संबंधित जिनों की मूर्तियों के नीचे उत्कीर्ण हैं। द्विभुज से विंशतिभुज यक्षियाँ ललितमुद्रा या ध्यान-मुद्रा में आसीन हैं। २४ यक्षियों में केवल चक्रेश्वरी, अंबिका एवं पद्मावती के निरूपण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में ही परंपरा का कुछ पालन किया गया है। कुछ यक्षियों के निरूपण में ब्राह्मण एवं बौद्ध देवकुलों की देवियों के लक्षणों का अनुकरण किया गया है। शांतिनाथ, अरनाथ, एवं नेमिनाथ की यक्षियों के निरूपण में क्रमशः गजलक्ष्मी, तारा (बौद्ध देवी) एवं हंसवाहिनी ब्रह्माणी (त्रिमुख) के प्रभाव स्पष्ट हैं। अन्य यक्षियां किसी स्थानीय परंपरा से निर्देशित रही हो सकती हैं।

जैन शिल्प में २४ जिनों के अतिरिक्त अन्य शलाकापुरुषों में से केवल बलराम कृष्ण, राम और भरत की ही मूर्तियाँ मिलती हैं। बलराम और कृष्ण के अंकन दसवीं–बारहवीं शती ई. में हुए। ये मूर्तियाँ देवगढ़, खजुराहो, मथुरा एवं आबू से मिली हैं। श्रीलक्ष्मी और सरस्वती के उल्लेख प्रारंभिक जैन ग्रंथों में हैं। सरस्वती का अंकन कुषाण युग में (राज्य संग्रहालय लखनऊ, जे. २४, १३२ ई.) और श्रीलक्ष्मी का अंकन दसवीं शती ई. में हुआ। जैन परंपरा में इन्द्र की मूर्तियाँ ग्यारहवीं–बारहवीं शती ई. में बनीं। प्रारंभिक जैन ग्रंथों (**अन्तगडदशाओ** आदि) में उल्लिखित नैगमेषी की मूर्तियाँ कुषाणकाल में बनीं। शांतिदेवी, गणेश, ब्रह्मशांति एवं कपर्दि यक्षों के उल्लेख और उनकी मूर्तियाँ दसवीं से बारहवीं शती ई. के मध्य की हैं। जैन परंपरा में गणेश के लक्षण पूर्णतः हिन्दू परंपरा से प्रभावित हैं। गणेश की स्वतंत्र मूर्तियाँ ओसिया की जैन देवकुलिकाओं, कुंभारिया के नेमिनाथ और नडलई के जैन मंदिरों से प्राप्त होती हैं। ब्रह्मशांति एवं कपर्दि यक्षों के स्वरूप क्रमशः ब्रह्मा और शिव से प्रभावित हैं।[४७]

जैन परंपरा में ऋषभनाथ के पुत्र गोम्मटेश्वर बाहुबली एवं भरत चक्रवर्ती को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। श्वेतांबर और दिगंबर दोनों ही परंपरा के ग्रंथों में भरत और बाहुबली के युद्ध और बाहुबली की कठोर तपश्चर्या के विस्तृत उल्लेख हैं। शिल्प में दिगंबर स्थलों पर इनका अंकन अधिक लोकप्रिय था। उसमें भी दक्षिण भारत के दिगंबर स्थलों पर इनकी सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। दिगंबर स्थलों पर छठीं-सातवीं शती ई. में बाहुबली का निरूपण प्रारंभ हो गया था, जिसके उदाहरण बादामी और अयहोल में हैं। दोनों परंपरा की मूर्तियों में बाहुबली को कायोत्सर्ग मुद्रा में दिखाया गया है और उनके हाथों और पैरों में माधवी की लताए लिपटी हैं। साथ ही शरीर पर सर्प, वृश्चिक और छिपकली आदि का, और समीप ही वाल्मीक से निकलते सर्पों का प्रदर्शन हुआ है। ये सभी बातें बाहुबली की कठोर तपस्या के भाव को ही व्यक्त करती हैं। बाहुबली की इस कठिन तपश्चर्या के कारण ही खजुराहो एवं देवगढ़ में उन्हें जिनों के समान प्रतिष्ठा प्रदान की गई। इन स्थलों पर जिन मूर्तियों के समान ही बाहुबली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के साथ अष्टप्रातिहार्यों एवं यक्ष-यक्षी युगल का निरूपण हुआ है।[४८] बाहुबली की मूर्तियों में श्रवणबेलगोला की ५७ फीट ऊँची मूर्ति (९८१-९८३ ई.) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और भारतीय कला का एक अप्रतिम और गौरवशाली उदाहरण है। खुले आकाश के नीचे स्थित यह विशाल मूर्ति विश्व की धार्मिक मूर्तियों में विशालतम भी है। बाहुबली की अन्य विशिष्ट मूर्तियाँ एलोरा, कारकल (१३४२ ई.) एवं वेणूर (१६०४ ई.) में हैं।

जिनों एवं यक्ष-यक्षियों के बाद जैन देवकुल में विद्याओं को सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली। **स्थानांगसूत्र, सूत्रकृतांग, नायाधम्मकहाओ** और **पउमचरियं** जैसे प्रारंभिक, एवं **हरिवंशपुराण, वसुदेवहिण्डी** और **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** जैसे परवर्ती ग्रंथों (छठीं-बारहवीं शती ई.) में विद्याओं के अनेक उल्लेख हैं।[४९] जैन ग्रंथों में वर्णित अनेक विद्याओं में से १६ प्रमुख विद्याओं को लेकर लगभग नवीं शती ई. में १६ महाविद्याओं की सूची नियत हुई। लगभग नवीं से बारहवीं शती ई. के मध्य इन्हीं १६ विद्याओं के ग्रंथों में प्रतिमा लक्षण निर्धारित हुए और शिल्प में भी इनकी मूर्तियां बनीं।

१६ विद्याओं की प्रारंभिकतम सूचियां **जयापहुड** (९वीं शती ई.), **संहितासार** (९३९ ई.) एवं **स्तुति चतुर्विशतिका** (लगभग ९७३ ई.) में हैं। वप्पभट्टि सूरि की **चतुर्विशतिका** (७४३-८३८ ई.) में सर्वप्रथम १६ में से १५ विद्याओं की लाक्षणिक विशेषताएँ निरूपित हुईं। सभी १६ विद्याओं की लाक्षणिक विशेषताओं का निर्धारण सर्वप्रथम शोभन मुनि की स्तुति चतुर्विशतिका में हुआ। विद्याओं की प्राचीनतम मूर्तियाँ ओसिया के महावीर मंदिर (लगभग ८वीं शती ई०) से मिली हैं। नवीं से तेरहवीं शती ई. के मध्य गुजरात और राजस्थान के श्वेतांबर जैन मंदिरों में विद्याओं की अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं। १६ महाविद्याओं के सामूहिक चित्रण के भी प्रयास किये गये, जिसके चार उदाहरण क्रमशः कुंभारिया के शांतिनाथ मंदिर (११वीं शती ई.) और आबू के विमलवसही (दो उदाहरण : रंगमण्डप और देवकुलिका ४१, १२वीं शती ई.), एवं लूणवसही (रंगमण्डप १२३० ई.) से मिले हैं। दिगंबर स्थलों पर विद्याओं के चित्रण का एकमात्र संभावित उदाहरण खजुराहो के आदिनाथ मंदिर की भित्ति (११वीं शती ई.) पर है।

भारतीय कला के संदर्भ में जैन मूर्तिकला के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यहाँ निम्नांकित विचार बिन्दुओं को रेखांकित करना उपयुक्त होगा :

भारतीय कला का विकास विभिन्न धार्मिक परम्पराओं के अनुसार हुआ है। इसलिए भारतीय कला के अनुशीलन के लिए भारतीय धार्मिक परम्पराओं तथा भारतीय संस्कृति के समष्टिगत स्वरूप का परिज्ञान आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परम्परा में मूर्ति पूजन के इतिहास का अनुशीलन करते समय सैन्धव सभ्यता के अधिक स्पष्ट, विशेषतः लिपि सम्बन्धी, संदर्भ महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं।

'महावीर के जीवनकाल में उनकी मूर्ति निर्मित हो गयी थी जो **'जीवंत स्वामी'** के नाम से अभिहित हुई, इस निष्कर्ष को अन्तिम रूप से स्वीकार करने के लिए अभी और अधिक पुष्ट प्रमाणों की अपेक्षा है।

जिन प्रतिमायें भारतीय प्रतिमा विज्ञान में विशेष स्थान रखती हैं। जिन प्रतिमाओं के साथ लांछन, अष्ट-प्रातिहार्य, यक्ष-यक्षी युगल एवं अन्य सहायक आकृतियों का अंकन उत्तरोत्तर विकसित हुआ है।

सर्वतोभद्रिका जिन प्रतिमाओं के निर्माण में समवसरण की संकल्पना के साथ ही भारतीय मूर्तिकला के अन्य समकालीन एवम् पूर्ववर्ती चतुर्मुखी उपादानों की परम्परा का तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है।

यक्ष-यक्षी, महाविद्याओं एवम् अन्य जैन देवों की मूर्तियों का अध्ययन समग्र भारतीय परम्पराओं के सांस्कृतिक आदान-प्रदान के संदर्भ में किया जाना चाहिए।

महाविद्याओं एवम् जिनों के जीवन दृश्यों का श्वेताम्बर स्थलों पर, तथा यक्षियों एवम् भरत और बाहुबलि आदि की दिगम्बर स्थलों पर विशेष लोकप्रियता भी ध्यातव्य है। कुछ जैन स्थलों पर काम-क्रिया से सम्बन्धित मूर्तियों का अंकन भी विशेष उत्सुकता का विषय है। खजुराहो के आदिनाथ मंदिर की १६ रथिकाओं की देवी मूर्तियाँ भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

पाद टिप्पणी

१. **एपिग्राफिया इण्डिका,** खं० १, कलकत्ता, १८९२, लेख सं० १, २, ७, २१, २९; खं० २, कलकत्ता, १८९४, लेख सं० ५, १६, १८, ३९।

२. भण्डारकर, डी० आर० **आर्किअलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट,** १९०८–०९, कलकत्ता, १९१२, पृ० १०८; नाहर, पी० सी० **जैन इन्स्क्रेप्शन्स,** भाग १, कलकत्ता, १९१८, पृ० १९२–९४; **एपिग्राफिया इण्डिका,** खं० ११, पृ०५२–५४; विजयमूर्ति (सं०) **जैन शिलालेख संग्रह,** भाग ३, बम्बई, १९५७, पृ० ७९, १०८; शास्त्री, परमानन्द जैन, 'मध्य भारत का जैन पुरातत्त्व', **अनेकान्त,** वर्ष १९, अं० १–२, पृ० ५७।

३. ढाकी, एम० ए०, 'सम अर्ली जैन टेम्पल्स इन वेस्टर्न इण्डिया' **महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबिली वाल्यूम,** बम्बई, १९६८, पृ० २९८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. उन्नियन, एन० जी०, रैलिक्स ऑव जैनिज्म—आलतूर', **जर्नल इण्डियन हिस्ट्री**, खं० ४४, भाग १, अप्रैल १९६६, पृ० ५४२ ।

५. द्रष्टव्य, मार्शल, जान, **मोहनजोदड़ो ऐण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन**, खं० १, लन्दन, १९३१, फलक १२, चित्र १३, १४, १८, १९, २२, पृ० ४५, फलक १० ।

६. चंदा, आर० पी०, 'सिन्ध फाइव थाऊजण्ड इयर्स एगो', **माडर्न रिव्यू**, सं० ५२, अं० २, अगस्त १९३२, पृ० १५१–१६०; रामचन्द्रन, टी० एन०, 'हरप्पा ऐण्ड जैनिज्म' (हिन्दी अनु०), **अनेकान्त**, वर्ष १४, जनवरी १९५७, पृ० १५७–६१, शाह, यू० पी०, **स्टडीज इन जैन आर्ट**, वाराणसी, १९५६, पृ० ३–४ ।

७. शाह, यू० पी०, 'बिगिनिंग्स ऑव जैन आइकानोग्राफी', **संग्रहालय पुरातत्त्व पत्रिका**, अं० ९, जून १९७२, पृ० २ ।

८. शाह, यू० पी०, 'ए यूनीक जैन इमेज ऑव जीवन्त स्वामी', **जर्नल ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट**, खं० १, अं० १, सितम्बर १९५१, पृ० ७२–७९; शाह, 'साइड लाइट्स आन दि लाईफ-टाइम सेण्डल वुड इमेज ऑव महावीर' **जर्नल ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट**, खं० १, अं० ४, जून १९५२, पृ० ३५८–६८; शाह, 'श्री जीवन्तस्वामी' (गुजराती), **जैन सत्यप्रकाश**, वर्ष० १७, अं० ५–६, पृ० ९८–१०९, शाह, **अकोटा ब्रोन्जेज**, बम्बई, १९५९, पृ० २६–२८ ।

९. शाह, यू० पी० 'श्री जीवन्तस्वामी', **जैन सत्यप्रकाश**, वर्ष १७, अं० ५–६, पृ० १०४, शाह, 'ए यूनीक जैन इमेज ऑव जीवंत स्वामी', **जर्नल ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट**, खं० १, अं० १, पृ० ७९ ।

१०. शाह, यू० पी०, 'ए यूनीक जैन इमेज ऑव जीवंत स्वामी', **पूर्व निर्दिष्ट**, पृ० ७२–७९ ।

११. शाह, यू० पी०, **अकोटा ब्रोन्जेज**, पृ० २६–२८, फलक ९ ए, बी, १२ ए ।

१२. जैन, हीरालाल, **भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान**, भोपाल, १९६२, पृ० ७२ ।

१३. द्रष्टव्य, जैन, जे० सी०, **लाईफ इन ऐन्शण्ट इण्डिया ऐज डेपिक्टेड इन दि जैन केनन्स**, बम्बई, १९४७, पृ० २५२, ३००, ३२५ ।

१४. द्रष्टव्य, शाह, यू० पी०, 'श्री जीवंत स्वामी'; **जैन सत्यप्रकाश**, वर्ष १७, अं० ५–६, पृ० ९८ ।

१५. **वसुदेवहिण्डी**, खं० १, भाग १, पृ० ६१ ।

१६. **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** १०.११.३७९–८० ।

१७. द्रष्टव्य, जायसवाल, के० पी०, 'जैन इमेज ऑव मौर्य पिरियड', **जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी**, खं० २३, भाग १, १९३७, पृ० १३०–३२, बनर्जी—शास्त्री, ए०, 'मौर्यन स्कल्पचर्स फ्राम लोहानीपुर, पटना', **जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी**, खं० २६, भाग २, जून १९४० पृ० १२०–२४ ।

१८. जायसवाल, के० पी०, **पूर्व निर्दिष्ट**, पृ० १३१ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९. द्रष्टव्य, मुखर्जी, आर० के०, **चन्द्रगुप्त मौर्य ऐण्ड हिज टाइम्स,** दिल्ली, १९६६, पृ० ३९–४१।

२०. भट्टाचार्य, बी० सी०, **दि जैन आइकानोग्राफी,** लाहौर, १९३९, पृ० ३३।

२१. मुखर्जी, आर० के०, **अशोक**, दिल्ली, १९७४, पृ० ५४--५५।

२२. **परिशिष्टपर्वन्** ९.५४ : द्रष्टव्य; थापर, रोमिला, **अशोक ऐण्ड दि डिक्लाइन ऑव दि मौर्यंज,** आक्सफोर्ड, १९६३, पृ० १८७।

२३. सरकार, डी० सी०, **सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स,** खं० १, कलकत्ता, १९६५, पृ० २१३–२१।

२४. शाह, यू० पी०, 'ऐन अर्ली ब्रोन्ज इमेज ऑव पार्श्वनाथ इन दि प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, बम्बई', **बुलेटिन प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, वेस्टर्न इण्डिया,** अं० ३, १९५२–५३, पृ० ६३–६५, प्रसाद, ए० के०, 'जैन ब्रोन्जेज इन दि पटना म्यूजियम', **महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबिली वाल्यूम,** बम्बई १९६८, पृ० २७५–८०।

२५. शर्मा, आर० सी०, 'प्रि-कनिष्क बुद्धिस्ट आइक्रानोग्राफी ऐट मथुरा', **आर्किअलॉजिकल कांग्रेस ऐण्ड सेमिनार पेपर्स,** नागपुर, १९७२ पृ० १९३–९४।

२६. श्रीवत्स, धर्मचक्र, स्वस्तिक, मत्स्ययुगल, त्रिरत्न।

२७. ब्यूरल, जी०, 'स्पेसिमेन्स ऑव जैन स्कल्पचर्स फ्राम मथुरा', **एपिग्राफिया इण्डिका,** खं० १, कलकत्ता १८९४, पृ० ३१४–१८।

२८. **पउमचरियं** ३.१२२–२६।

२९. अग्रवाल, आर० सी०, न्यूली डिस्कवर्ड स्कल्पचर्स फ्राम विदिशा, **जर्नल ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट,** खं० १८, अं० ३, मार्च १९६९, पृ० २५२–५३।

३०. कामदत्तो जिनागारपुरे लोकप्रवेशने।
मृगध्वजस्य प्रतिमां सन्यधान्महिषस्य च॥
अत्रैव कामदेवस्य रतेश्च प्रतिमां व्यधात्।
जिनागारे समायाताः प्रजायाः कौतुकाय सः॥
कामदेवरतिप्रेक्षाकौतुकेन जगज्जनाः।
जिनायतनमागत्य प्रेक्ष्य तत्प्रतिमाद्वयम्॥
संविधानकमाकर्ण्य तद्भाद्रकमृगध्वजम्।
बहवः प्रतिपद्यन्ते जिनधर्ममहर्द्धिकम्॥
प्रसिद्धं च गृहं जैनं कामदेवगृहाख्यया।
कौतुकागतलोकस्य जातं जिनमताप्तये॥—**हरिवंशपुराण** २९.१–५।
(**हरिवंशपुराण**; सं० पन्नालाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमाला, संस्कृत ग्रंथांक २७, वाराणसी, १९६२, पृ० ३७८)

३१. **हरिवंशपुराण** २९.९–१०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२. ज्ञातव्य है कि जैन धर्म के सभी अर्धमागधी आगम ग्रन्थ लगभग पाँचवीं शती ई० के मध्य या छठीं शती ई० के प्रारम्भ में (४५४ या ५१४ ई०) देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वलभी (गुजरात) वाचन में लिपिबद्ध किये गये।

३३. ६३ शलाकापुरुषों की सूची में २४ जिनों के अतिरिक्त १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव सम्मिलित हैं।

३४. २४ जिनों की सूची में ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि (पुष्पदंत), शीतल, श्रेयांश, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म, शांति, कुंथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व एवं वर्धमान (महावीर) ये नाम हैं। द्रष्टव्य **समवायांगसूत्र** १५७, **कल्पसूत्र** २, १८४–२०३; **पउमचरियं** १.१–७, ५.१४५–४८।

३५. अष्टप्रातिहार्यों की सूची में अशोक वृक्ष, देव पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, सिंहासन, भामण्डल, देव दुन्दुभि एवं त्रिछत्र सम्मिलित हैं।
अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥
प्रतिष्ठासारोद्धार १.७६; **हरिवंशपुराण** ३.३१–३८; **रूपमण्डन** ६.३३–३५।
(द्रष्टव्य **जैन धर्म का मौलिक इतिहास**—हस्तीमल, भाग १, जयपुर, १९७१, पृ० ३३),

३६. विस्तार के लिए द्रष्टव्य; चन्दा, आर० पी०, 'जैन रिमेन्स एट राजगिर', **आर्किअलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट**, १९२५–२६, पृ० १२५–२६; तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, 'एन अन्पब्लिश्ड जिन इमेज इन दि भारत कला भवन वाराणसी', **विश्वेश्वरानन्द इन्डोलॉजिकल जर्नल**, खं० १३, अं० १–२, मार्च-सितम्बर १९७५ ई०, ३७३–७५; शाह, यू० पी०, **अकोटा ब्रोन्जेज**, बम्बई, १९५९, पृ० २८–२९।

३७. २४ जिनों के लांछनों की सूची इस प्रकार है—वृषभ, गज, अश्व, कपि, क्रौंच पक्षी, पद्म, स्वस्तिक (नन्द्यावर्त), शशि, मकर, श्रीवत्स (या स्वस्तिक), गण्डक (या खड्गी), महिष, शूकर, श्येन, वज्र, मृग, छाग (बकरा), नंद्यावर्त (या तगरकुसुम–मत्स्य), कलश, कूर्म, नीलोत्पल, शंख, सर्प एवं सिंह।

३८. **एपिग्राफिया इण्डिका** खं. २, कलकत्ता, १८९४ (पृ. २०२-२०३, २१०।

३९. द्रष्टव्य, शाह, यू. पी., **स्टडीज इन जैन आर्ट**, वाराणसी, १९५५, पृ. ९४-९५, दे, सुधीन, 'चौमुख ए सिम्बालिक जैन आर्ट', **जैन जर्नल**, खं. ६, अं. १, जुलाई १९७१, पृ. २७; श्रीवास्तव, बी. एन., 'सम इन्टरेस्टिग जैन स्कल्पचर्स इन दि स्टेट म्यूजियम, लखनऊ', **संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका**, अं. ९, जून १९७२, पृ. ४५।

४०. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, 'सर्वतोभद्रिका जिन मूर्तियाँ या जिन चौमुखी', **सम्बोधि**, खं. ८, अं. १-४, अप्रैल '७९–जनवरी '८०, पृ. १-७।

४१. मथुरा से कुषाणकालीन एकमुखी और पंचमुखी शिवलिंगों के उदाहरण मिले हैं। पंचमुखी शिवलिंग में चार मुख चार दिशाओं में हैं और एक मुख सबसे ऊपर है। राजघाट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(वाराणसी) से मिली परवर्ती शुंग काल की एक त्रिमुख यक्ष मूर्ति में तीन दिशाओं में तीन स्थान पर यक्ष मूर्तियाँ बनी हैं : द्रष्टव्य, अग्रवाल, वी. एस., **भारतीय कला,** वाराणसी १९७७, पृ. २६७-६८; अग्रवाल, पी. के. 'दि ट्रिपल यक्ष स्टैचू फ्राम राजघाट', **छवि,** वाराणसी, १९७१, पृ. ३४०-४२ ।

४२. वी. एस. अग्रवाल ने स्वस्तिक को चार दिशाओं का सूचक माना है । अग्रवाल ने ब्रह्मा के चार मुखों को चार दिशाओं का मूर्त रूप माना है, जिससे स्वस्तिक का रूप संपन्न होता था । अशोक के सारनाथ सिंहशीर्ष स्तम्भ में चार दिशाओं में चार सिंह आकृतियाँ बनी हैं : द्रष्टव्य, अग्रवाल, वी. एस., **पूर्व निर्दिष्ट,** पृ. ३३६, ३४३ ।

४३. द्रष्टव्य, शाह, यू. पी. 'यक्षज वरशिप इन अर्ली जैन लिट्रेचर', **'जर्नल ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट',** खं. ३, अं. १, सितम्बर १९५३, पृ. ६१-६२ ।

४४. जैन ग्रंथों के आधार पर २४ यक्ष एवं यक्षियों की सूचियाँ निम्नलिखित हैं : गोमुख-चक्रेश्वरी (या अप्रतिचक्रा), महायक्ष-अजिता (रोहिणी), त्रिमुख-दुरितारी (प्रज्ञप्ति), यक्षेश्वर (या ईश्वर)-कालिका (या वज्रश्रृंखला), तुम्बरु (या तुम्बर)-महाकाली (पुरुषदत्ता), कुसुम (या पुष्प)-अच्युता (या मनोवेगा), मातंग (या वरनन्दि)-शान्ता (या काली), विजय (या श्याम)-भृकुटि (या ज्वालामालिनी), अजित-सुतारा (या महाकाली), ब्रह्म-अशोका (या मानवी), ईश्वर-मानवी (या गौरी), कुमार-चण्डा (या गान्धारी), षण्मुख (या चतुर्मुख)-विदिता (या वैरोटी) पाताल-अंकुशा (या अनन्तमती), किन्नर-कन्दर्पा (या मानसी), गरुड-निर्वाणी (या महामानसी), गन्धर्व-बला (या जया), यक्षेन्द्र (या (खेन्द्र)-धारणी (या तारावती), कुबेर (या यक्षेश)-वैरोट्या (या अपराजिता), वरुण-नरदत्ता (या बहुरूपिणी), भृकुटि-गान्धारी (या चामुण्डा) गोमेध-अम्बिका (या आम्रा या कुष्माण्डिनी), पार्श्व (या धरण)-पद्मावती एवं मातंग-सिद्धायिका (या सिद्धायिनी) ।

४५. द्रष्टव्य, शाह, यू. पी. 'इण्ट्रोडक्शन ऑव शासन देवताज इन जैन वरशिप' **'प्रोसिडिंग्स एण्ड ट्रान्जेक्शन्स ऑव दि आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फरेन्स,** २०वाँ अधिवेशन, भुवनेश्वर, अक्टूबर १९५९, पृ. १५१-५२; भट्टाचार्य, बेनायतोश, **दि इंडियन बुद्धिस्ट आइकानोग्राफी,** कलकत्ता, १९६८, पृ. ५६, २३५, २४०, २४२, २९७; बनर्जी, जे. एन. **दि डीवलपमेण्ट ऑव हिन्दू आइकानोग्राफी,** कलकत्ता, १९५६, पृ. ५६१-६३ ।

४६. द्रष्टव्य, ब्रुन, क्लाज, **दि जिन इमेजेज ऑव देवगढ़,** लिडेन, १९६९, पृ. ९८-११२; मित्रा, देबला, 'शासन देवीज इन दि खण्डगिरि केव्स,' **जर्नल एशियाटिक सोसाइटी,** खं. १, अं. २, १९५९, पृ. १३०-३३ ।

४७. द्रष्टव्य, शाह, यू. पी. 'ब्रह्मशांति ऐण्ड कपर्द्दी यक्षज', **जर्नल एम. एस. यूनिवर्सिटी, बड़ौदा,** खं. ७, अं. १, मार्च १९५८, पृ. ५९-७२ ।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

४८. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, जैन, सागरमल तथा तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, **जैन साहित्य और शिल्प में बाहुबलि**, वाराणसी, १९८१।

४९. द्रष्टव्य, शाह, यू० पी०, 'आइकानोग्राफी ऑव दि सिक्सटीन जैन महाविद्याज', **जर्नल इण्डियन सोसाइटी ऑव ओरियण्टल आर्ट**, खं० १५, १९४७, पृ० ११४–७७; तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, 'दि आइकानोग्राफी ऑव दि सिक्सटीन जैन महाविद्याज ऐज रिप्रेजेण्टेड इन दि सीलिंग ऑव दि शांतिनाथ टेम्पल, कुंभारिया', **संबोधि,** खं० २, अं० ३, अक्तूबर १९७३, पृ० १५–२२, 'दि आइकानोग्राफी ऑव दि सिक्सटीन जैन महाविद्याज ऐज इनन्शियेटेड इन दि आइकानोग्राफिक टेक्स्ट्स', **संबोधि,** खं ५, अं० २–३, जुलाई-अक्तूबर १९७६, पृ० ६९–७३।

कला इतिहास विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org